अङ्क-२६
जुलाई-दिसम्बर २०१५

वेदविद्या
ISSN-2230-8962

वैदिक वाङ्मय - प्रायश्चित-धर्म विवेचन

प्रो. रूप किशोर शास्त्री

वैदिक चिन्तन में पुनर्जन्म एवं कर्मसिद्धान्त का प्राधान्य रहा है। प्रत्येक मनुष्य के कर्मों में वैविध्य भी सर्वविदित है, कर्म के सन्दर्भ में जब विविक्षा होती है, तब उसका विविधता के फलस्वरूप नैसर्गिक और अनैसर्गिक जीवन पद्धति के विभिन्न आयामों का दर्शन एवं प्रदर्शन उपलब्ध होता है। उक्त नैसर्गिकानैसर्गिक जीवन पद्धति के परिणामस्वरूप अपेक्षत्वानपेक्षत्व भाव तथा कर्म की धारा प्रवाहमान हो जाती है। चिन्तन की अपेक्षा से भाव (संस्कार) व कर्म की धारा अजस्र सी इस सृष्टि चक्र में अविरम प्रवाह की ओर प्रतीत होती है - चूंकि अनेकानेक कर्मों तथा भावों का नित्यशः गुणानुगुणीकरण होकर जीव के पुनः पुनः आवागमन का तारतम्य ही बन जाता है। वैदिक सिद्धान्त में कर्मों के परिणामों को भोगने के उपरान्त ही उपराति कही है। मानव समुदाय स्वभाव से अल्पज्ञ भी है, अल्पज्ञता के कारण वह इसी अन्तराल में अनेक त्रुटियाँ भी कर बैठता है, फलतः अनेक कर्मों तथा कर्मज भावों अर्थात् संस्कारों का प्रवाह अनन्तकालिक होता जाता है। मानव चिन्तनशील होने के कारण इसका अन्त अथवा विराम लगाने के उपायों का अन्वेषण करता पाया गया है।

ऋग्वेद में इसका मूल उत्स उपलब्ध है, वहाँ सत्य धर्म से पतित मनुष्य को पुनः अभ्युदय एवं निःश्रेयस् मार्ग का अनुसरण करने अर्थात् पाप तथा अपराध करने वाले को पुनः विशुद्ध नवजीवन प्रदान करने का उल्लेख है।[१] यजुर्वेद में अशुद्धाचरण से विरत होने के लिए शुद्धि का व्यवहार आवश्यक बताया है।[२] अथर्ववेद (६.४५.१) में 'अशस्ता' अर्थात् निन्दित कर्मों के विषयों से परे रहने के लिए मन पर लगाम को लगाना आवश्यक कहा है। यजुर्वेद ३०/३, ४०/१६, ३४/१-६ में वर्णित दुरित, पापादि अशुद्धाचरण को दूर करते हुए मन को शिव संकल्पशील बनाने का संकेत इसी दिशा में प्रयास है। वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध उक्त प्रक्रिया एक पारिभाषिक पद 'प्रायश्चित' के रूप में स्वीकार्य रही है।

वैदिक साहित्य में प्रायशः दो पदों का व्यवहार हुआ है - 'प्रायश्चिति' तथा 'प्रायश्चित' लेकिन दोनों का अभिप्राय एवं अर्थ एक ही है। अथर्ववेद १४/१/३१ में प्रायश्चिति प्रयुक्त है[३] (३), वस्तुतः यह

---

१ उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः।
उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः॥ ऋग्. १०/१३७/१

२ दैव्याय कर्मणे शुन्धध्वं देवयज्यायै।
यद्वो शुद्धाः पराजघ्नुरिदं वस्तच्छुन्धामि॥ यजु. १/१३

३ स इत् तत्स्योनं हरति ब्रह्मा वासः सुमङ्गलम्।

प्रायश्चिति अपेक्षाकृत् प्रायश्चित के अत्यधिक प्राचीन है, वैदिक भाषा एवं भाषाविज्ञान की दृष्टि से भी यही माना जा सकता है। तैत्तिरीय संहिता के 'असावादित्यो न व्यरोचत तस्मै देवाः प्रायश्चिति मेच्छन्'- २/१/२/४, २/१/४/१, 'यदि मिथेव तैरैव कपालैः संसृजेत्सैव ततः प्रायश्चितिः'- ५/१/९/३, "एष वै प्रजापतिं सर्वं करोति योऽश्वमेथेन यजते सर्वं एव भवति सर्वस्य वा एषा प्रायश्चितिः सर्वस्य मेषजम्"- ५/३/१२/१, जैमिनीय ब्राह्मण के १/५१ से १/६५ तक के सभी उद्धरणों में 'प्रायश्चिति' या 'प्रायश्चितपः' (बहुवचन में), षड्विंश ब्राह्मण के ९/९/१२, ९/९/१५ शतपथ ब्राह्मण के 'अग्नि प्रायश्चितिः' ६/६/४/१४, ६/६/४/११ इत्यादि स्थलों पर प्रायः कर प्रायश्चिति का ही प्रयोग देखने को मिलता है। पारस्कर गृह्यसूत्र के १/१०, ऐतरेय ब्राह्मण ५/२७, शतपथ ब्राह्मण ४/५/७/१, ७/१/४/९, ९/५/३/८ तथा १२/५/१/६ कौषीतकि ब्राह्मण ५/९/६/१२, आश्वलायन श्रौतसूत्र ३/१०/३८, सामविधान ब्राह्मण १/५/३, शांखायन श्रौतसूत्र ३/१९/१ तथा मनुस्मृति ११/४४, ११/४६ इत्यादि अन्यान्य ग्रन्थों के उद्धरणों में प्रायश्चिति एवं प्रायश्चित दोनों पदों का व्यवहार समान रूप से विद्यमान है।

सामवेदीय ब्राह्मण के 'अथातः प्रायश्चितानां'[१] उस सूत्र की टीका में आचार्य सायण ने इसकी व्युत्पत्ति में प्रायः प्र + आयः, प्र (प्रकर्षेण) उपसर्गपूर्वक आयः = प्रायः = प्राप्ति, तथा चितं = ज्ञानं (निति संज्ञा ने) = प्रायश्चितं अर्थात् किसी विहित कर्म को ज्ञात या अज्ञात अवस्था में सम्पादन न होने के फलस्वरूप अन्त में विहित कृत्यों को परिपूर्ण करने की विधि या प्रक्रिया को प्रायश्चित कहा है।[२] लेकिन ताण्ड्य ब्राह्म - ९/९/७ के भाष्य में सायण ने 'प्रायः' का सर्वथा भिन्न अर्थ किया है कि - विनाश तथा विनाश के समाधान को 'चित्ति' कहा है, अर्थात् दोषों, विघ्नों व विनाश का समाधान करना यही सायण का अभिप्राय रहा होगा।[३] 'आङ्गरसस्मृति' में प्रायश्चित्त के व्युत्पत्ति सन्दर्भ में 'प्रायः' को तप तथा चित्त को निश्चय, दृढ़ आस्था या संकल्प के रूप में प्रस्तुत करते हुए यहाँ तप और निश्चय के संयोग को प्रायश्चित्त कहा है।[४] एक अन्य व्युत्पत्तिकार बालम्भट्टी ने 'प्रायः' पापं विनिर्दिष्टं चित्तं तस्य विशोधनम्" इस वाक्य द्वारा स्पष्ट करना चाहा है कि 'प्रायः' पाप है और 'चित्त - शोधन या

प्रायश्चितिं यो अध्येति येन जाया न रिष्यति॥ अथर्व. १४/१/३०

१ सा.वि. १/५/१

२ आयः प्राप्तिः प्रकर्षेणायः प्रायः। विहित कर्माकरणस्य प्राप्तिरित्यर्थः। तत्प्रतीकार विषयं चित्तं चित्तानिं, तत्पूर्वानुष्ठानानि प्रायश्चित्तानि।-- वही सायण भाष्य

३ प्रायश्चित्तं प्रायो विनाशस्तस्य समाधानं ज्ञानं चित्ति नाशशंसोपशोषण जनित दोषस्योपशमनं करोति। ता. ब्रा. ९/९/७ सायण भाष्य

४ प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते। तपो निश्चय संयोगात् प्रायश्चित्तमिति स्मृत्यम्॥ आं.स्मृ. २/४

शुद्धिकरण।[१] 'प्रायश्चित्त विवेक' में उक्त व्युत्पत्ति एवं अर्थ की पुष्टि की है।[२] निष्कर्षतः इन व्युत्पत्तिमूलक अर्थों से स्पष्ट होता है कि 'प्रायश्चित्तं' को मूलतः नित्य, नैमित्तिक व काम्य कार्यों के अन्तर्गत ज्ञानाज्ञान से यदि कोई अपराध, त्रुटि या दोष हो जाया करता था कि उसके निवारणार्थ किसी उपायवश उस अपराध को शमन या अवरुद्ध करने वाली विधि या कर्त्तव्य को निस्सन्देह 'प्रायश्चित्त' कहा जाता था। इस सम्बन्ध में यह धारणा अद्यावधि प्राचलित है। 'यत्तपः प्रमृतिकं कर्म उपचित्तं संचितमशुमं पापं नाशयतीति। कृततत्कर्मभिः कुर्त्तः प्रयतत्वाद्वा। शुद्धत्वादेव तत्प्रायश्चित्तम्'।[३] आचार्य हारीत के ये शब्द प्रायश्चित्त के अर्थनिमित्त सर्वथा प्रासंगिक कहे जा सकते हैं।

प्रायश्चित्त का सम्बन्ध नित्य, नैमित्तिक एवं काम्य तीनों कर्मों से है, और प्रायश्चित्त स्वयं में भी नित्य, नैमित्तिक व काम्य कर्म का स्वरूप ग्रहण कर लेता है, जब इसका उपयोग उक्त कर्मोत्पन्न पाप, अपराध से उपरति प्राप्त करने किया जाती है। तब इसका कर्मत्रय से सम्बन्ध होने तथा इन्हीं के निमित्त प्रायश्चित्त का उपयोग होने के कारण इसे 'त्रिवृत' भी कहा जा सकता है। नित्य कर्मों के करने में किसी पुण्य की प्राप्ति नहीं होती, अपितु न करने से पाप वृद्धि अवश्यम्भावी है, इसलिए नित्यकर्म अवश्य करणीय होते हैं। प्रतिदिन अनजाने में होने वाले अपराधों का शमन करने के लिए नित्य कर्मों का विधान है। महर्षि मनु ने नित्य कर्म सम्बन्धित व्यवस्था देते हुए कहा है कि गृहस्थों से चूल्हा, चक्की, झाड़ू-बुहारी, ओखली मूसल और जलकलश इन पाँचों स्थानों में अनजाने में हिंसात्मक अपराध होता रहता है। मानव अपने लिए वस्तुओं के दैनिक उपयोग में लाने के कारण पाप से सम्बद्ध होता रहता है। क्रमशः उक्त पंच बध स्थानों में होने वाले पापों से छुटकारा पाने के निमित्त, गृहस्थों को प्रतिदिन पंचयज्ञ का कर्त्तव्य सर्वथा अपेक्षित बताया है। अध्ययन, अध्यापन, चिन्तन, सन्ध्यादि को 'ब्रह्मयज्ञ', वृद्धों की सश्रद्ध सेवा, तर्पर्ण को 'पितृयज्ञ', अग्नि को दी जाने वाली हवि को 'अग्निहोत्र' या देवयज्ञ, प्राणियों को दी जाने वाली भोज्य सामग्री या बलि को 'बलिवैश्यदेव यज्ञ' या 'भूत यज्ञ' और अतिथि सत्कार के लिए 'अतिथि यज्ञ' कहा जाता है। इस प्रकार इन पंचमहायज्ञों को यथाशक्ति परित्याग न करे तो गृहस्थ उक्त पंचस्त्रीय अपराधों से लिप्त नहीं होता।[४] प्रायश्चित्त विवेककार के मत में, जो अपराध हो गया है, उसका शमन करना आवश्यक है अतः पापक्षय के लिए प्रायश्चित्त नैमित्तिक कर्म है।[५] चूंकि

---

१ याज्ञवल्क्य स्मृति ३/२०६

२ प्रायो विनाशः चित्तं संघानं विनष्टस्य संघानमिति विभागयोगेन प्रायश्चित् शब्दः पापक्षयार्थे नैमित्तिक कर्मविशेषे वर्तते। प्रा. वि.पृ. ९८९

३ प्रा.वि. पृ. ३

४ मनुस्मृति ३/६८-७१

५ प्रा.वि. पृ. ९८९

प्रायश्चित्त उस कर्मविशेष में रूढ़ है,[१] जो नैमित्तिक कहा जाता है, अर्थात् विशेष अवसर पर कृत्य है। फलप्राप्ति की कामना से किए जाने वाले कर्म 'काम्य' कर्म कहे जाते हैं, ज्योतिष्टम, पुत्रेष्टि आदि कर्म 'काम्य' है। अतः काम्यगत कर्म की सफलता के लिए प्रायश्चित्त का सहयोग होने के कारण इसको 'काम्य' भी कहा जाना सर्वथा उचित है। इन नित्य नैमित्तिक काम्य कर्मों में अपराध, दोष या त्रुटि हो जाने पर उसके शमनार्थ प्रायश्चित्त सम्पादनीय हैं। महर्षि मनु का विचार है कि विहित कर्म को न करने वाला और निन्दित कर्म को करता हुआ, इन्द्रियों के विषय में आसक्त मनुष्य 'प्रायश्चित्त' का अधिकारी है।[२]

षड्विंश ब्रालणकार ने एक विशेष सिद्धानत की ओर संकेत किया है कि चाहे अवगत पाप है, या अनवगत, उनका प्रायश्चित्त अवश्य ही करना पड़ेगा।[३] सायण ने 'अवगत' (जाने में) 'अनवगत' (अनजाने में) इन दो शब्दों के लिए क्रमशः 'ज्ञात' एवं 'अपरिज्ञात' का प्रयोग अपने भाष्य में किया है।[४] मनुस्मृति में अवगत और अनवगत दोनों के लिए क्रमशः 'कामकृत' और 'अकामकृत' इन दो पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख प्राप्त है, यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि कामकृत या अकामकृत पाप क्षम्य हैं या नहीं, तो क्या अपेक्षित कर्तव्य होना चाहिए ? मनुस्मृति में महर्षि मनु वेदाभ्यास को अकामकृत अपराधों के लिए पर्याप्त मानते हैं, यह उनकी दृष्टि में सुलम एवं ऋजु उपाय है, और कामकृत पापों के शमनार्थ यथायोग्य विधि वा विभिन्न प्रायश्चित्तों को स्वीकार करते हैं।[५]

वैदिक विचारधारा के अन्तर्गत कामकृत पापों का शमन प्रायश्चित्त द्वारा नहीं, अपितु उनके फलों के माँगने से ही सम्भव है। गौतम धर्मसूत्रकार ने यहाँ दो मत प्रस्तुत किये हैं एक - कि दुष्कृत्यों के लिए प्रायश्चित्त से समस्या का समाधान नहीं अपितु तत्सम्बन्धित फलों के भोग से ही सम्भव है, परन्तु दूसरे मतानुसार पाप के शमन के लिए प्रायश्चित्त का सम्पादन आवश्यक है।[६] मनु ने तो प्रायश्चित्त न करने वाले पापियों से सामाजिक सम्बन्ध तोड़ने अथवा समाज से बहिष्कार करने की व्यवस्था दी है।[७] इससे ज्ञात होता है कि कामकृत या अकामकृत पापों के लिए प्रायश्चित्त न करने वाले को समाज में हेय एवं निच माना जाता रहा है, और जो व्यवस्थानुसार प्रायश्चित्त कर लेता है, उसे 'क्षम्य' कहा है। वस्तुतः

---

१ प्रायश्चित्त शब्दश्चायं पापक्षयार्थे नैमित्तिके कर्मविशेषे रूढः। मिताक्षरा ३/२२०

२ अकुर्वन्विहितं कर्म निन्दितं न समाचरन्। प्रसक्तश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः॥ मनु. ११/४४

३ यच्चावगतं यच्चानवगतं सर्वस्यैषैव प्रायश्चित्तिरिति। ष.वि. १/२/१३, १/६/१८

४ यच्च यदपि अवगतं अन्यथा ज्ञातम्। यच्च अनवगतं अपरिज्ञातम्। वही

५ आकामतः कृतं पापं वेदाभ्यासेन शुध्यति। कामतस्तु कृतं मोहात्प्रायश्चिते पृथग्विधे॥ मनु. ११/४६

६ गो.ध.सू. १९/३-६

७ एनस्विरनिर्णिक्तैर्नार्थं किंचित्सतातरेत्। कृतिनिर्णेजनांश्चैव न जुगुप्सेत कर्हिचित्॥ मनु. ११/१८९

प्रायश्चित्त का विधान पापकर्म की प्रवृत्ति के प्रति नियन्त्रण के लिए है। इससे स्पष्ट होता है कि समाज की एक नियमबद्ध व्यवस्था के दूरगामी एवं निरस्थायी परिणामों को देखते हुए शास्त्रकारों ने यह मर्यादा दी।

दैनिक यज्ञ के विनियोग में प्रायः अन्तिम आहुतियों में एक आहुति 'स्विष्टकृदाहुति' के नाम से 'यदस्य कर्मणोऽत्परीरिचं यद्वान्यूनभिहाकरमु.....' इस मन्त्र द्वारा अज्ञान वा अभिमान वश अथवा न्यूनाधिक विधि होने के फलस्वरूप पाप निवारणार्थ सर्वप्रायश्चित्त आहुति कर यज्ञ को सुकृत करने की कामना विद्यमान् है।[१] अन्य शास्त्रकार ने भी माना है कि पातकी को अपनी शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त करना चाहिए, इससे उसका व्यक्तित्व पूर्ववत् स्थिति को प्राप्त कर लेता है तथा समाज भी प्रसन्न हो जाता है। अतः प्रायश्चित्तत्त जानबूझकर कये गये पापों को नष्ट नहीं करते, किन्तु प्रायश्चित्त कर लेने पर पापी व्यक्ति समाज को स्वीकार्य हो जाता है।[२]

वेद में पापों से बनकर भद्र मार्ग-प्राप्ति की प्रार्थनाएँ प्रायः उपलब्ध हैं, पातकों के लिए वेद में कुछ पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग देखने को मिलता है यथा - 'दुरिता'[३], 'रपस्'[४], 'पाप'[५], 'अवद्य'[६], 'अनृत'[७], 'दुष्कृत'[८], 'एनस्'[९], 'अप'[१०], 'अहंस्'[११], 'आगस्'[१२]। मनुष्य के जीवन या मन में पातक क्यों एवं कैसे हैं ? यद्यपि अनेक बार पातकों के मूल के प्रति सचेत होने पर भी पातकी हो जाते है। ऋग्वेद में इस समस्या की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया है, कि पातक जाग्रतावस्था में किये जाने वाले कार्यों से ही नहीं वरन् स्वप्नावस्था में भी दुष्कृत्य होते रहते हैं।[१३] इसलिए वेद मन को शिवसंकल्पशील

---

१ आश्व. गृ. १/१०/२२

२ याज्ञ. स्मृति ३/२२६

३ विश्वानि देव सवितुर्दुरितानि परासुव। यजु ३०/३; पातमवद्यादुरितात्। ऋग. १/१८५/१०; ३दमापः प्रवहत यत्किंच दुरितं मयि। ऋग. १/२३/२२

४ विष्वग्वि वृहता रपः। ऋग् ८/६७/२१

५ ऋग् ८/६१/११, १०/१०/१२, ४/५/५

६ ऋग. १/१८५/१०

७ ऋग. १/२३/२२

८ ऋग. ८/४७/१३, १०/१६४/३

९ मा व एनो अन्यकृतं भुजेम। ऋग. ६/५१/७; कृतं चिदेनो नमसा विवासे। ऋग. ६/५१/८; न इन्द्र एनसो महश्चित। ऋग. ७/२०/१ तथा ऋग. ६/७४/३, १/१८९/१, २/२८/७, ७/५२/२, १/९७/१-८

१० आरे पाशा आरे अघानि। ऋग. २/२९/५ केवलाघो भवति केवलादी। वही १०/११७/६

११ न तमंहो देवकृतं कुतश्चन न मर्त्यकृतं नशत्। ऋग. ८/२९/६ ऋतावरी रक्षतामंहसो रिपः। वही १०/३६/२, १०/३६/३ तथा २२/८/६

१२ वयं चकृमा कच्चिदागः। ऋग. २/२७/१४ आरे मत्कर्त रहसूरिवागः। ऋग् २/२८/१ तथा २/२८/५, १/१८५/८, ४/१२/४, ६/८५/७

१३ न स स्वो दक्षो वरुण..... स्वप्नश्चनेदनृतस्य प्रयोता। ऋग् ७/८६/६

बनाने की प्रेरणा देता है, क्योंकि इसका स्वभाव ही है जाग्रत और स्वप्नावस्था में दूर-दूर जाने का।[१] इन्द्रिय निग्रह और रजोगुणदाय के कारण कामकृत अर्थात् अवगत दुष्कृत्यों की सम्भावना प्रायः होती नहीं। विहित कम्र न करने से, वर्जित को करने से और असंयमेन्द्रिय मनुष्य पातकी हो जाता है।[२]

शास्त्रकारों के अनुसार दुष्कृत्यों को पाँच भागों में विभाजित किया जा सकता है - 'महापाप' (प्राणहारी पाप), 'अतिपाप' (सबसे बड़ पाप), 'पातक' (बड़े पाप), 'उपपातक' (साधारण पाप) और 'सांसर्गिक पाप' (संग या संसर्गजन्य)। वृद्ध हारीतकार (९/२१५-२१६) ने भी यही माने हैं, परन्तु पातकों के नाम कुछ भिन्न है, यथा - महापाप, पातक, अनुपातक, उपपातक और प्रकीर्णक। मनु ने मनुस्मृति के ग्यारहवें अध्याय में पातकों एवं प्रायश्चित्तों पर प्रकाश डालते हुए पातकों, उपपातकों, महापातकों का विस्तृत उल्लेख किया है। यहाँ पर वे ब्रह्म हत्या, मदिरापान, चोरी, गुरुपत्नी से व्यभिचार तथा इन पापों के करने वालों के साथ संसर्ग को भी 'महापातक' मानते हैं।[३] बृहदारण्यकोपनिषद्(४/३/२२) में भ्रूणहत्या को भी महापातक कहा गया है। इसी अध्याय में उक्त महापातकों की कोटि में आये पातकों का उल्लेख मिलता है। आत्मप्रशंसा के लिए असत्य बोलना, राजा से चुगली करना, गुरु को झूठा समाचार सुनाना ये ब्रह्महत्या के सदृश हैं। वेद को त्यागना, वेदनिन्दा, झूठी गवाही, मित्र का वध, अभक्ष्य भक्षण ये सुरापान, सदृश, धरोहर, मनुष्य, घोड़ा, चांदी, भूमि, हीरा, मणि आदि का हरण, चोरी के सदृश, सहोदरा भगिनी, कुमारी, चण्डाली, सखा या पुत्र की पत्नी इनसे व्यभिचार करना गुरुपत्नी गमन सदृश महापातक बताए हैं।[४] प्राचीन धम्रशास्त्रों में स्पष्टतया सुरापान को महापातक माना है। अश्वपति राजा के द्वारा राजदरबार में अभ्यागत ब्राह्मणों के समक्ष गर्व एवं विश्वास से घोषणा करना कि मेरे राज्य में कोई मद्यपी अर्थात् सुरापान करने वाले (आज की भाषा में शराबी) नहीं हैं,[५] इस बात का प्रमाण हे कि उस समय सुरापान को 'महापातक' माना जाता था। गौतमधर्मसूत्र (२१/३), मनुसमृति (११/१८०), याज्ञवल्क्यस्मृति (३/२६१) में उक्त चार महापातकों के करने वाले महापापियों के साथ निरन्तर एक वर्ष तक सम्पर्क व संसर्ग बनाकर रखने वालों को भी महापातकी की संज्ञा दी है।

याज्ञवल्क्यस्मृति (३/२२९-२३६) और मनुस्मृति (११/५९-६६) में वर्णित उपपातकों का उल्लेख करते हुए कहा है कि गोवध, परस्त्रीगमन, आत्मविक्रय, गुरु माता पिता का त्याग, ज्येष्ठ भ्राता के रहते

---

१ यज्जाग्रतो दूरमुदेति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवेति। दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु। यजु. ३४/१

२ याज्ञ. स्मृ. ३/२१९

३ ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः। महान्तिपातकान्याहुः संसर्गश्चापितो सह॥ मनुस्मृति ११/५४

४ मनु. ११/५५-५८

५ न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मथपः। नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥ छा.उप. ५/११/५

कनिष्ठ का विवाह, कन्या का दूषित करना, व्रतभंग, तड़ाग, उद्यान, स्त्री और सन्तान को बेचना, यथोचित काल में यज्ञोपवीत का न होना, बान्धवों का परित्याग, वेतन लेकर वेदों को पढ़ाना तथा वेतन लेकर न पढ़ाना, अक्रय का विक्रय मार्यादि अन्य स्त्रियों से वैश्यावृत्ति करना, मारण वशीकरण, बन्धन के लिए उपयोगी हारत वृक्षों का काटना, निन्दित अन्न का भक्षण, अनाहिताग्नि होना, चोरी करना, ऋणों का न चुकाना, असत् अश्लील शास्त्रों का पठन, नृत्य वाघ का दुरुपयोग, मद्यपा स्त्री से व्यभिचार, स्त्री, शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय का वध और नास्तिक्य ये सब उपपातक हैं। इसके अतिरिक्त अत्यधिक भोजन करना, उच्छिष्ट छोड़ना, विषय भोगों में चिन्तित रहना, दिन में सोना, अनतर्गल, मिथ्या प्रचार, मिथ्या विद्रोह खड़ा करना, दूसरे घरों में भोजन करना, दिन में रतिक्रीड़ा, परपत्नी पर दृष्टिपात करना, उपवास, श्राद्ध एवं पर्वों के दिनों में सम्भोग, शुद्र की नौकरी, नीच लोगों से मित्रता, स्त्रियों से उपहास, किसी भी पशु-पक्षी का मांस भक्षण आदि उपपातकों की विस्तृत जानकारी अध्ययन के क्षेत्र में मिलती है।

साधारणतया व्यवस्था तो यह है कि कर्म चाहे शुभ हो या अशुभ, उनका परिणाम तो अवश्य ही भोग्य है, क्योंकि कर्म का नाश नहीं हो जाता।[१] न्यायदर्शनकार ने स्वीकार किया है कि वर्तमान शरीर या योनि की प्राप्ति पूर्ववत् कर्मों के आधार पर ही है।[२] अर्थात् मानवकृत कर्म अच्छे या बुरे जैसे भी हों बिना फलोपभोग के मुक्ति नहीं। अतः यदि निश्चित है कि वह अच्छे या बुरे कर्मों से छुटकारा पा सकता हे यदि इनका फल भोग लेता है।[३] भोगे बिना करोड़ों वर्षों तक भी आवागमन का चक्र समाप्त नहीं होता।[४] महर्षि पतंजलि ने 'हेयं दुःखमनागतम्' योगदर्शन (२/१६) इस सूत्र द्वारा निर्देश दिया है कि अनागत दुःख से निवृत्ति की प्रवृत्ति करनी चाहिए, एतदर्थ सामान्य जन से लेकर प्रबुद्ध जनों तक के लिए प्रायश्चित्त ही उचित साधन है। गौतम धर्मसूत्र के शब्दों में जप, तप, यज्ञ, उपवास, दान आदि के रूप में प्रायश्चित्त विधेय है।[५] यद्यपि दुष्कृत्यों, पातकों ..... भोगे बिना समाप्त तो नहीं हो सकते हाँ भविष्य में पातकों से सावधान होने के लिए प्रायश्चित्त ही सर्वोत्तम साधन है। शतपथ ब्राह्मण (२/५/२/२०) की मान्यता है कि पाप को स्वीकार कर लेने से सत्य का भाव पैदा होता है, चूँकि सत्य बोलना पुण्य है, इस सत्य स्वीकारोक्ति से पाप की गुरुता कम हो जाती है। अभिप्राय हुआ कि अपराध को स्वीकार कर लेना प्रायश्चित्त का प्रथम सोपान एवं प्रधान अंग है।

महर्षि मनु ने स्पष्ट किया है कि जैसे-जैसे मन दुष्कृत कर्म की निन्दा करता है वैसे वह अधर्म से छूटता है। पापानन्तर सन्तापयुक्त होने से उस पाप से बनता है और फिर ऐसा न करूँ इस प्रकार वह

---

१ न हि कर्मक्षीयते। गौ.घ.सू. १९/५

२ पूर्वकृतफलानुबन्धात् तदुत्पत्तिः। न्याय. ३/२/६१

३ न तु भोगादृते पुण्यं पापं वा कर्म मानवम्। परित्यजति भोगाच्च पुण्यापुण्ये निबोध में॥ मार्क. पु. १४/४७

४ नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि। अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्॥ प्र.वि.पृ. १७

५ तस्य निष्क्रयणानि जपस्तपो होम उपवासो दानम्। गो.घ.सू. १९/११

निवृत्त होने से पवित्र होता है। तप को भी मनुस्मृति में एक मुख्य प्रायश्चित्त माना गया है, इसके अनुष्ठान करने वाला पाप से बन जाता है। मन, वाणी, शरीर से कृत पापों को तप से दग्ध करने का पक्ष प्रस्तुत किया गया है।[१] उपवास को भी तप माना है। मनुस्मृति (११/२०३) में वेदव्यवस्थित कृत्यों को छोड़ देने एवं स्नातक के विशिष्ट कर्मों के प्रमादतः त्याग देने पर प्रायश्चित्त निमित्त एक दिन के उपवास की महिमा कही है। मर्यादानुसार उपवास करते समय कई कर्म छोड़ देने पड़ते हैं। बार-बार पानी पीना, ताम्बूल लेना, दिन में सोना तथा संभोग से इसका फल नष्ट हो जाता है। महाभारत के शान्तिपर्व ७९/१८ में उपवास से शरीर को निर्बल कर देना तप नहीं माना है, अपितु अहिंसा, सत्यवनन, मृदुता, इन्द्रियनिग्रह एवं कृपा को तप मानने से उपवास का गौरववृद्धि होती है। इससे तो स्पष्ट हो जाता है कि उपवासात्मक तप को संकुचित क्षेत्र में बांधना अज्ञानता होगी।

ब्राह्मण के गवादि द्रव्य की चोरी करने पर, चतुर्थ काल में जल के पास एक मास पर्यन्त रहने, ब्राह्मणेत्तर वर्ण के पुरुष की चोरी का प्रायश्चित्त 'कृच्छ व्रत' का पालन करते हुए 'अयं सहस्र मानवः' सामवेद ४८५ में मन्त्र द्वारा पाठ करें, ब्राह्मण द्वारा गमन पाप का प्रायश्चित्त तीन 'कृच्छ्रव्रत' और 'ब्रह्मजज्ञानं' साम. ३२१ मन्त्र का उच्चारण करना लिखा है। इसी प्रकार क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र दारागमन के प्रायश्चित्त का उल्लेख किया गया है।[२] इन सभी प्रायश्चित्तों का उद्देश्य ही था कि समस्त वर्णों की स्त्रियों की पवित्रता एवं प्रतिष्ठा बनी रहे और समाज में आदरणीय हों। सामविधान ब्राह्मण (१/७-८) में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रादि के गौर आदि पशु पक्षियों की हत्या, वित्तहरण, परिजन सम्बन्धित पातक आवा सामाजिक पापकों के प्रायश्चित्तों का सविस्तार उल्लेख उपलब्ध है। लगभग ऐसा ही वर्णन षड्विंश ब्राह्मण (६/२-१२) में मिलता है।

यज्ञ में त्रुटि या न्यूनता को षड्विंश ब्राह्मणकार ने 'यज्ञविभ्रष्ट' कहा है। यज्ञविभ्रष्टता हो जाने पर उसका प्रायश्चित्त पुनः यज्ञ करके ही होना बताया है।[३] 'प्रारब्ध स्तोत्र' में किसी प्रकार का विघ्न, दोष या अपराध हो जाय उसके उपशमनार्थ हिरण्यगर्भः समवर्ततात्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसात्। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम(यजु. १३/४) इस मन्त्र का उच्चारण कर प्रायश्चित्त कर्म करणीय है।[४] यज्ञ में सप्रमाद अगन्याधानजन्य दोष रामनार्थ पुनः यज्ञानुष्ठान ही प्रायश्चित्त है। इसके अतिरिक्त यज्ञोपरान्त समुचित दक्षिणा देकर पुनः यज्ञसम्बन्धी दीक्षा ग्रहण करना भी सम्मिलित है।[५]

---

१ मनुस्मृति ११/२२९-२३० तथा २३९-२४१

२ सा.वि.ब्रा. १/६ सम्पूर्ण खण्ड

३ अथ यदाह यज्ञो वोव यज्ञस्य प्रायश्चित्तिरिति पुनर्यज्ञ एव स एते उ ह त्वेवांहुती यज्ञविभ्रष्टस्य प्रायश्चित्तिरिति। ष.वि.ब्रा. ३/२/४

४ ता.ब्रा. ९/९/१२

५ ४७ वही ९/९/१५

प्रायश्चित्त निमित्त यज्ञ करने का एकमात्र अभिप्रायः व्यक्ति अपेन दुष्कृत्यों द्वारा खोई हुई समाज प्रतिष्ठा एवं भगवत्कृपा को पुनः प्राप्त करना ही था।

गृहस्थ में पुत्री, पत्नी व पशु आदि के साथ-साथ निवास करते हुए किसी प्रकार का पाप होने पर 'अग्नि प्रायश्चित्त', 'चन्द्र प्रायश्चित्त', 'वायु प्रायश्चित्त' और 'सूर्य प्रायश्चित्त' का उल्लेख छान्दोग्य ब्राह्मण में हुआ है।[१] जैमिनीय ब्राह्मण के अनुसार यज्ञकर्म में आद्योपान्त विधि विधान के अन्तर्गत अमेध्यत्व होने पर प्रायश्चित्त का विधान तदनुरूप ही है। दीर्घ सात्रिक यज्ञों में अग्नि का तारतम्य विश्रृङ्खलित होने या अग्निरहित होने पर प्रसिद्ध अग्नित्रय (गार्हपत्य, अन्वाहार्य-पवन और आहवनीय) जो लोकत्रय के रूप में है, इनको धारण कर विस्तार करें।[२] दीर्घसत्र यज्ञों में अग्निहोत्र करते हुए सर्पिस् साकल्पादि गिर जायें तो प्रश्न उपस्थित हुआ कि 'किं तत्र कर्म का प्रायश्चित्तिः'। प्रायश्चित्त इसका यही है कि 'यद् एव तत्र स्थाल्या' परिशिष्टं स्यात् तेन जुहुयात्। अस्थिर हुआ स्थाली साकल्य पात्र टूट जाय उसका क्या प्रायश्चित्त हो ? समाधान में कहा 'अथ यद् अन्यद् निन्देत् तेन जुहुयात्।"[३]

अग्निहोत्र करते समय किसी के द्वारा अमेध्य-अपवित्रता करने पर या अमेध्य आजाने की स्थिति में भी यथासम्भव अनवरतता रखना ही चाहिए। पहले से ही अमेध्य होने पर 'अद्भिरभ्यसिच्य परासिंचति' को लक्ष्य कर प्रायश्चित्त कर्तव्य है। प्रश्न उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि वस्तुतः प्रायश्चित विधान को अधिकारी कौन हो सकता है ? क्या प्रायश्चित्त के अधिकारी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, चाण्डाल सभी हैं अथवा नहीं ? मनुस्मृति (११/४४) के 'प्रायश्चित्तीयते नरः तथा याज्ञवल्क्यस्मृति (३/२१९) के 'नरः पतनमृच्छति' इन पदों में 'नरः' शब्द का प्रयोग उपलब्ध है। यहाँ 'नर' शब्द किसी वर्णविशेष के लिए प्रयुक्त नहीं अपितु समस्त मानव समाज के लिए अभीष्ट है। जो शूद्र पापी या अन्य वर्ण का, जो मन्त्रोच्चारण या यज्ञ क्रिया से न तो अवगत है और ना ही सम्पादित करा सकता है, वह भी अन्य प्रकार की प्रायश्चित्त विधि कर सकता है[४], अथवा वह प्रयास करके याज्ञिकों से यज्ञ करा प्रायश्चित्त कर सकता है। याज्ञिकप्रक्रिया करने के पूर्व, मध्य या पश्चात् में, मुख्य, गौण अथवा न्यूनाधिक्य दोष-त्रुटि भय से विराम कर देने अथवा परिवर्तन कर देने की बात को जैमिनीय ब्राह्मण कदापि स्वीकार नहीं करता है।[५] यह ब्राह्मण प्रायश्चित्त का विधान तो अवश्य करता है परन्तु जटिल एवं कठिन नहीं। यह उदारवादी, दृष्टिकोण का प्रबल पोषक है, यह विधि के अवरुद्ध हो जाने या विघ्नमय से विराम कर देना ही पाप मानता है, यथासम्भव प्रायश्चित्त करके पूर्ण कर लेना श्रेयस्कर है, यही इसका वैशिष्ट्य है। इस

---

१ ४८ छा.ब्रा. ९/९/१५

२ ४९ इमान् वा एष लोकान् अनुवितनुते योऽग्नीन् आधत्ते। तस्यायं एव लोको गार्हपत्यो भवत्यन्तरिक्षलोकोऽन्वाहार्यपचनोऽसाव एव लोक आहवनीयः। जै.ब्रा. १/५१

३ ५० वही १/५३

४ ५१ याज्ञवल्क्य स्मृति ३/२६२

५ जै. ब्रा. १/५४/६५, १/३५८ तथा १/२६४

ब्राह्मण ग्रन्थ की उदारता तब और मुखरित हो उठती है, जब किसी भी प्रकार के व्यवधान, पाप या दोष को 'भूः', 'भुवः', 'स्वः' इन व्याहृतियों द्वारा सर्वप्रायश्चित्त का अनेक स्थानों पर विधान करता है।[१]

सामविधान ब्राह्मण पापी पुरुष के लिए आपन्नः 'प्रायश्चित्तं चरेत्' का उल्लेख कर प्रायश्चित्त सम्बन्धित आचार संहिता को आवश्यक कहा नतात है।[२] पापक्षयार्थ अनेक बार प्रायश्चित्त आवृत्ति भी विहित बताई है।[३] अश्लील गुह्य भाषणादि वाक्दोष के शुद्धिकरणार्थ "दधिक्राठणो अकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः। सुरभि नो मुखा करत् प्रण आयूंषि तारिषत।" (सामवेद- ३५८) इस मन्त्र का गायन करे। 'सुरभि नो मुखाकरत्' की पूर्ण भावना के सहित मुख के अश्लीलत्व निवारण के लिए प्रायश्चित्त कहा है।[४]निष्ठुर वाक् प्रयोग में 'इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा नि दधे पद्म" (सामवेद २२२) का, तथा माता-पिता भ्राता, गुरु, उपाध्यायादि के प्रति हुए वाक्पुरुष के रामनार्थ सामवेद की उक्त ऋचा के द्वारा गायन कर प्रायश्चित्त का विधान किया है।[५] अमेध्य दर्शन, जिघ्रण, अखाद्य, अपवित्र प्राशन आदि के लिए भी साममन्त्रों का गायन कर प्रायश्चित्त का विधान हुआ है।[६]

सुरापान के महापातक से छुटकारा प्राप्त करने के लिए कठोर प्रायश्चित्त का उल्लेख सामविधान ब्राह्मण ग्रन्थ में मिलता है, इसके प्रायश्चित्त प्रकरण में कहा कि एक वर्ष तक अष्टम प्रहर पर क्षार लवणादि रहित भोजन करता हुआ पद्मासन लगाकर गोपनीय स्थान पर रहे, शीतादि निवारणार्थ उत्तरीय आदि वस्त्र धारण न करे त्रिवसन स्नान कर 'पवित्र ते विततं ब्रह्मणस्पते सामवेद ५६५ इस मन्त्र का सन्ध्या समय जाप करें ग्राम से बाहर कुटी बनाकर निवासादि इन सभी का अनुष्ठान करने के उपरान्त, केश, श्मश्रु, नख को काटकर नवीन वस्त्र धारण कर ब्राह्मणों द्वारा स्वस्ति का उच्चारण करवाकर सुरापान के महापातक से मुक्त होना लिखा है।[७] उक्त महापातकी को 'तप्तकृच्छ्र' नामक प्रायश्चित्त करके पुनः उपनयन संस्कार कराने का निर्देश मनु महाराज ने मनुस्मृति (११/१४६) में दिया है। सुरापान के महापातक से बचने के लिए कठोर प्रायश्चित्त का विधान अन्य शास्त्रकारों ने भी किया है।[८] यद्यपि सुरापान (शराब पीना) आज एक साधारण सी बात मानी जाती है तो फिर शास्त्रकारों ने इसे महापातक क्यों माना ? इसका समाधान महर्षि मनु ने बताया कि सुरापान किया ब्राह्मण भी उन्मत्त

---

१ भूर्भुवः स्वरित्येताभिर्व्याहृतिभिः। एता वै व्याहृतयः सर्वप्रायश्चित्तयः। जै.ब्रा. १/५३, १/६०; जै.उ.ब्रा. ३/४/३/२-३

२ सा.वि.ब्रा. १/५/३

३ अभ्यासः साम्नां शतं दशावरम्। वही १/५/४

४ सा.वि.ब्रा. १/५/५

५ पुरुषमुक्त्वेदं विष्णुर्विचक्रम इति। ब्राह्मणमुक्त्वा त्रिः भ्रातरं मातुलं पितृव्यमिति गुरुजातीयान्। उपाध्यायं मातरं पितरमित्येतेषु त्रिरात्रमुपवसन्नेतस्यैवान्त्यम्॥ वही, १/५/६-९

६ वही १/५/१०-१३

७ सा.वि. ब्राह्मण १/५/१५

८ मनु. ११/९०-९२

हुआ अपवित्र स्थानों में गिरेगा, वेद की निन्दा करेगा तथा कोई भी समाज घातक प्राणघातक या अन्य निषिद्ध कर्म करेगा। अतः यह महापातक का मूल बताया है।[१] ब्रह्महत्या तथा पुत्री, पुत्रवधू, माता, गुरुपत्नी के साथ गमन को विष्णुपुराण (३४/१) ने अतिपाप और महापाप दोनों को ही यथास्थल माना हैं और इसका प्रायश्चित्त 'अग्नि प्रवेश' से बढ़कर कोई और हो नहीं सकता।[२] महर्षि मनु ने कठोर एवं उदार दृष्टिकोण रखते हुए कहा है कि ऐसा महापातकी मृत्यु को प्राप्त करे अथवा यति होकर निर्जन वन में 'प्राजापत्यकृच्छ' प्रायश्चित्त करे।[३] लेकिन सामविधानब्राह्मण ने समस्त महापातकों के लिए सुरापान महापातक की तरह के प्रायश्चित्त करने का विधान किया है।[४]

वैदिक साहित्य में प्रायश्चित्तों के विभिन्न पर्याय नामों का प्रयोग देखने को मिलता है यथा - अघमर्षण, कृच्छ, अतिकृच्छ, कृच्छसंवत्सवर, प्राजापत्य, नान्द्रायणव्रतादि अनेकानेक पारिभाषिक शब्दों का व्यवहार हुआ है। प्रायज्ञः व्रतों का रूप ही प्रायश्चित माना जाता रहा है। एतदर्थ 'कृष्छ' शब्द बहुशः प्रयुक्त है। इस सम्बन्ध में 'धर्मशास्त्र का इतिहास' के यशस्वी लेखक महामहोपाध्याय पी.वी.काणे ने विस्तार से उल्लेख किया है - संक्षेपतः तत्तद् पातक हेतु कृतप्रायश्चित्त ही विभिन्न नामों से कृच्छ शब्द का उल्लेख मिलता है यथा - शीतकृच्छ, अतिकृच्छ, सुवर्णकृच्छ, तोयकृच्छ, धनदकृच्छ, कृच्छसंवत्सर, कृच्छमास, कृच्छातिकृच्छ, अर्धकृच्छ, आग्नेयकृच्छ, गोमूत्रकृच्छ, नान्द्रायणकृच्छ, सप्तकृच्छ, तुलापुरुषकृच्छ, दधिकृच्छ, देवकृच्छ, नित्योपासकृच्छ, पत्रकृच्छ, पर्णकृच्छ, पादकृच्छ, पादोनकृच्छ, पुष्पकृच्छ, फलकृच्छ, बालकृच्छ, ब्रह्मकृच्छ, महातप्तकृच्छ, महातप्तकृच्छ, महेश्वरकृच्छ, मूलकृच्छ, मैत्रकृच्छ, यज्ञकृच्छ, वायव्यकृच्छ, वृद्धिकृच्छ, व्यासकृच्छ, बालकृच्छ, श्रीकृच्छ, सोम्यकृच्छ, इसके अतिरिक्त अन्य कृच्छ या प्रायश्चित्त हैं, जिनके साथ कृच्छ शब्द यद्यपि नहीं जुड़ा है, परन्तु वे प्रायश्चित्त या कृच्छ ही हैं - यथा - सोमायन, सुरनान्द्रायण, सान्तपन, शिशुचान्द्रायण, वज्र, यावक, यतिसान्तपन, यतिचान्द्रायण, महासान्तपन, ब्रह्मकूर्च, वृहद्पावक, प्राजापत्य, प्रसृपपावक, पर्णकूर्ल, पायक, पंचगकय, चान्द्रायण, गोव्रत, अश्वमेघावमृथस्नान, अघमर्षण[५], आदि इन सभी कृच्छ या प्रायश्चित विधियों का विभिन्न अपराधों के शमनार्थ शास्त्रदृष्टि से सम्पादित करने का विधान एवं निर्देश है।

---

१ अमेध्येवापतेन्मत्रो वैदिकं वाप्युदाहरेत्। अकार्यन्यत्कुर्याद्वा ब्राह्मणो मद मोहितः॥ मनु. ११/९६

२ वि.पु. ३४/२

३ मनु. ११/१०३-१०५

४ (क) एतेन कल्पेन भ्रूणहा पूर्वमेतन ब्रह्महा शुद्धा शुद्धीपमुत्तरमेतेन सुवर्णस्तेनोऽमित्रिपृष्ठमित्यभि त्रिपृष्ठमिति।
सा.वि.ब्रा. १/५/३
(ख) गुरुदाशन् गत्वा सुराकल्पेनाक्रानित्येतद् गायेत्। वही १/६/३

५ घ. शा. इ. (तृतीय भाग) पी.वी. काणे

समस्त अपराधों के सम्बन्धित प्रायश्चित प्रकरण को देखने के बाद एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि इन प्रायश्चित्तों का विधान राज्य या न्याय परिषद् से संचालित था या अपने समाज की व्यवस्था थी अथवा व्यक्तिगत अध्याय था ? और राज्य परिषद् या न्याय-परिषद् का क्या अस्तित्व था ? वस्तुतः समस्त धर्मशास्त्रों, स्मृतिग्रन्थों के अध्ययन से निष्कर्ष निकलता है कि प्रायश्चित्त स्वरूप तीन प्रकार का ही था - व्यक्तिगत, सामाजिक एवं राज्य या न्याय परिषद् सम्बन्धी। कुछ ऐसे अपराध, जिनकी जानकारी न तो समाज को होती थी और न ही राज्य व्यवस्था को। अपराध तो अपराध ही होता है। उस अपराध से सम्बन्धित व्यक्ति ही शास्त्र मर्यादानुसार उसका प्रायश्चित ईमानदारी से करके उस अपराध या पातक से उपरति प्राप्त करने में अपना कर्तव्य समझता था। दूसरी सामाजिक व्यवस्था थी। इस व्यवस्था के अन्तर्गत पातकी समाज द्वारा निर्दिष्ट प्रायश्चित्त को करता था। औश्र तीसरी व्यवस्था रही है राज्य की या न्यायपरिषद् की। इस व्यवस्थानुसार पातकी को राजदण्ड अथवा राजदण्ड एवं समाज दण्ड या प्रायश्चित्त दोनों ही मिल सकते थे। अध्ययन पथ पर यह भी देखने में आया है कि यह प्रायश्चित्त व्यवस्था राज्य की ओर से ही संचालित थी। आगे चलकर यह प्रायश्चित्त दण्ड के रूप में विकासित हुआ है।

सामवेदीय ब्राह्मण ग्रन्थों, स्मृतियों, धर्मग्रन्थों, पुराणों आदि ने स्पष्ट रूप से माना है कि प्रायश्चित्त न करने से पापी को भविष्य में दुष्परिणामों को भुगतना पड़ता है। याज्ञवल्क्यस्मृति (३/२०६ एवं ३/२२१), मनुस्मृति (१२/५४) में उल्लेख है कि पापकृत्य के फलस्वरूप सम्यक् प्रायश्चित्त न करने से परम भयावह कष्टकारक यातनाएँ भोगनी पड़ती है चाहे किसी भी समय, जन्म या योनि में। आज प्रयुज्यमान अंग्रेजी भाषा का सारी (Sorry) शब्द प्रायश्चित्त का अत्यन्त संकुचित प्रयोग है। किसी भी त्रुटि, अपराध के लिए मानो सारी शब्द अधरों पर रख रहता है, कहकर वह उस अपराध से उपरति चाहता है और मानता भी है, लेकिन अवगत होना चाहिए कि मात्र सारी कह देने से अपराध क्षम्य एवं शम्य नहीं है। यद्यपि यह मानवता का परिचायक अवश्य है कि वह व्यक्ति अपनी त्रुटि या अपराध के लिए स्वयं या सार्वजनिक रूप से स्वीकृति मानता एवं अनुभव करता है, शास्त्रकारों की दृष्टि में यह प्रायश्चित्त का प्रथम सोपान है। अपराध, पातक, त्रुटि या दोष के लिए स्वीकारोक्ति भी अपेक्षणीय है परन्तु अपने प्राच्य धर्मग्रन्थों के अनुसार महापातक, उपपातक एवं अन्य पातकों के लिए प्रायश्चित्त का विधान अनिवार्य बताया है।

प्रो. रूप किशोर शास्त्री
सचिव
महर्षि सान्दीपनि राष्ट्रीय वेद विद्या प्रतिष्ठान, उज्जैन